शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

श्रावण : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ४

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

केवलज्ञान होने की शक्ति

केवलज्ञान और मोक्षदशा वह आत्मा की शुद्ध स्वभावपर्याय है; वह पर्याय नई प्रगट होती है।—कहाँ से प्रगट होती है?—द्रव्य में वैसी शक्ति है, उसमें से प्रगट होती है। पर्याय में जो केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट होती है, वह शक्ति द्रव्यस्वभाव में विद्यमान है, उसी में से प्रगट होती है। यदि द्रव्य के स्वभाव में शक्ति न हो तो पर्याय में नहीं आ सकती। सिद्ध भगवन्तों को जो केवलज्ञान प्रगट हुआ है, वह द्रव्य की शक्ति में से ही प्रगट हुआ है। इसलिये जिसे केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट करना हो, उसे द्रव्य के स्वभाव की शक्ति का निर्णय करके इसका अवलम्बन लेना चाहिये। द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन करने से उसमें जो शक्ति भरी है, वह शक्ति पर्याय में प्रगट हो जाती है—इसप्रकार द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन के सिवा अन्य कोई मोक्ष का उपाय नहीं है। किन्हीं निमित्तों में, राग में या अल्पज्ञता में केवलज्ञान की शक्ति नहीं है, इसलिये उस किसी के अवलम्बन से केवलज्ञान नहीं होता।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१३६]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

यह है सर्वज्ञपद की प्राप्ति का उपाय

[श्री प्रवचनसार गाथा ४० पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों से; वीर सं. २४८१]

(१) यह आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है; उसका ज्ञानस्वभाव अतीन्द्रिय है। उस ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करके श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करने से अतीन्द्रिय सर्वज्ञपद और परमानंद प्रगट होता है—वह आत्मा का हित है।

(२) किन्तु ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन न करके इन्द्रियाधीन ही वर्ते तो वह ज्ञान पराधीन है। इन्द्रियाधीन वर्तता हुआ वह पराधीन ज्ञान आकुलतामय है; वह ज्ञान भूत-भविष्य के पदार्थों को नहीं जान सकता। स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय न लेकर, बाह्य इन्द्रियों का आश्रय लेकर वर्ते, वह संसार का कारण है।

(३) जिसे अतीन्द्रिय सर्वज्ञपद और परमानंद प्रगट करना है, उसे इन्द्रियों की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की रुचि करने योग्य है; मिथ्यादृष्टि जीव, इन्द्रियाधीन ज्ञान के कारण इन्द्रियों का दास होकर वर्तता है।

(४) अतीन्द्रियज्ञान तो स्वभाव का आश्रय लेता है, इन्द्रियज्ञान परसंयोग का आश्रय लेता है।

स्वभावाश्रित अतीन्द्रियज्ञान, वह सर्वज्ञपद का उपाय है। संयोगाश्रित इन्द्रियज्ञान, वह आकुलता का कारण है।

(५) सम्यक्दर्शन भी अतीन्द्रिय स्वभाव के अवलम्बन से होता है। सम्यक्ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वभाव के अवलम्बन से होता है। चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वी को भी अंशतः अतीन्द्रियज्ञान हुआ है और उतना इन्द्रियों का अवलम्बन छूट गया है, वह अतीन्द्रियज्ञान पूर्ण अतीन्द्रिय ऐसे सर्वज्ञपद का कारण है।

(६) साधक को अंशतः अतीन्द्रियज्ञान हुआ है; वहाँ जितना इन्द्रियों का अवलम्बन वर्त रहा है, वह तो हेय है; जिसप्रकार साधकदशा में राग होता है किन्तु वह हेय है, उसीप्रकार इन्द्रियज्ञान भी हेय है। सर्वज्ञपद प्रगट करना हो, उसे इन्द्रियों का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय करना चाहिये।

(७) इन्द्रियज्ञान स्वयं ही स्वभाव का आश्रय छोड़कर इन्द्रियाधीन वर्तता है; कहीं जड़ इन्द्रियाँ उसे पराधीन नहीं बनातीं! ''इन्द्रियों का निमित्त हो तो ज्ञान होता है''—ऐसी मान्यता से

अज्ञानी स्वयं अपने ज्ञान को पराधीन बनाता है। इन्द्रियाँ ज्ञान को पराधीन बनाती हैं—ऐसा जो मानता है, वह कभी अपने ज्ञान को स्वाधीन अतीन्द्रिय नहीं बना सकता।

(८) अरिहंतदेव के जड़ इन्द्रियाँ ज्यों की त्यों विद्यमान होने पर भी उनका ज्ञान कहीं इन्द्रियाधीन नहीं वर्तता; उनका ज्ञान तो स्वभाव का अवलम्बन लेकर पूर्ण अतीन्द्रिय वर्तता है; वहाँ इन्द्रियाँ कहीं उसे पराधीन नहीं बनातीं।

(९) उसीप्रकार निचलीदशा में भी कहीं इन्द्रियों के कारण ज्ञान नहीं होता। अज्ञानी कहता है कि—''इन्द्रियों से ज्ञात होता है, इन्द्रियाँ न हों तो ज्ञान नहीं हो सकता।'' यहाँ तो ''जैन बालपोथी'' के पहले ही पाठ में कहते हैं कि ''मैं ज्ञान से जानता हूँ, इन्द्रियों से नहीं जानता।'' अज्ञानी को मूल में से ही आपत्ति उठायें ऐसा है। इन्द्रियाँ नहीं जानतीं किन्तु ज्ञान जानता है। इन्द्रियों के आधीन भी ज्ञान स्वयं होता है; और स्वभावोन्मुख होकर अतीन्द्रियरूप भी स्वयं होता है;—इसप्रकार दोनों में जीव स्वयं स्वतंत्र है।

(१०) इसप्रकार अपने स्वभाव की ओर न झुककर जो ज्ञान, परज्ञेयों की ओर ही ढलता है, वह पराधीन इन्द्रियज्ञान आकुलता उत्पन्न करनेवाला है, वह ज्ञान कहीं स्थिर नहीं होता, किन्तु परज्ञेयों को जानने की आकुलता से वहीं भटकता रहता है। स्वभावोन्मुख ज्ञान अतीन्द्रिय है और उसके साथ ही अतीन्द्रिय आनंद रहता है।—ऐसा अतीन्द्रियज्ञान ही उपादेय है। स्वभाव के आश्रय से प्रवर्तमान अतीन्द्रियज्ञान ही सर्वज्ञपद की प्राप्ति का उपाय है।

आत्मधर्म

श्रावण : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ४

आत्मा का ज्ञान और आनंद-स्वभाव

केवली भगवान को आहार माननेवाला विषयों का ही अर्थी है, आत्मा का अर्थी नहीं है।

[श्री प्रवचनसार गाथा २० पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों से]

(इस लेख में आहार कहने से कवलाहार समझना)

आत्मा का ज्ञान और आनंद स्वभाव है। आत्मा अपने स्वभाव से ही स्वयमेव ज्ञान और आनंदरूप परिणमित होता है। ऐसे आत्मस्वभाव का भान करके तथा उसमें लीनतारूप शुद्धोपयोग द्वारा जिनके अतीन्द्रियज्ञान और आनंद विकसित हो गये हैं-ऐसे केवली भगवन्तों को देह सम्बन्धी कोई भी सुख या दु:ख नहीं होता। शरीर में क्षुधा लगे और आहार करे, वे दोनों इन्द्रियजनित दु:ख-सुख हैं, किन्तु भगवान का आत्मा तो इन्द्रियों से पार अतीन्द्रिय ज्ञानानंदस्वभावरूप परिणमित हो गया है, इसलिये भगवान को क्षुधा या आहार नहीं होते।—ऐसा होने पर भी, केवली भगवान को भी जो क्षुधा और आहारादि का होना मानते हैं, उन्हें भगवान के अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द की खबर नहीं है, इसलिये उन्हें आत्मा के अतीन्द्रिय स्वभाव की रुचि नहीं है, किन्तु वे विषयों के ही अर्थी हैं; इन्द्रियविषयों से पार आत्मा के अतीन्द्रियसुख की उन्हें गन्ध भी नहीं है; और केवली भगवान का भी वे अवर्णवाद करते हैं, केवली भगवान का अवर्णवाद, वह मिथ्यात्व के आस्रव का कारण है। अहो! आत्मा का स्वभाव ही अतीन्द्रियज्ञान और आनन्दमय है; उसकी यदि प्रतीति हो तो, जिनके वह अतीन्द्रिय स्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है—ऐसे केवली भगवान को आहार या क्षुधा होना

माने ही नहीं। वास्तव में तो उस मिथ्यादृष्टि जीव को स्वयं इन्द्रिय-विषयों की रुचि नहीं छूटी है, इसलिये स्वयं अतीन्द्रिय हुए केवली भगवान को भी वह शरीर सम्बन्धी सुख-दुःख मानता है।

भगवान को सर्व आत्मप्रदेश में ज्ञान और आनंद परिपूर्ण विकसित हो गये हैं; देहातीत—अतीन्द्रियदशा हो गई है। यह जड़ इन्द्रियाँ विद्यमान होने पर भी उनके साथ ज्ञान का सम्बन्ध छूट गया है। जहाँ इन्द्रियों के साथ भी सम्बन्ध नहीं रहा, वहाँ आहार-जल का सम्बन्ध तो कैसे होगा ?—नहीं हो सकता।

केवलज्ञान होने के पश्चात् भी हजारों-लाखों वर्षों तक भगवान को शरीर रहता है, तथापि उनके आहार नहीं होता; क्योंकि एक तो उनका शरीर परमौदारिक हो जाता है और आत्मा इन्द्रियातीत हो गया है; इन्द्रियों का अथवा इन्द्रियविषयों का अवलम्बन उनको सर्वथा छूट गया है। अहो ! केवलज्ञान होने से भगवान का आत्मा तो पलट गया—दोषरहित हो गया। और भगवान का शरीर भी पलटकर क्षुधादि दोषों से रहित परमौदारिक हो गया है। देखो, यह भगवान की दशा !! जो भगवान के ऐसे स्वरूप को नहीं जानता, उसे आत्मा के ज्ञान-आनंदस्वभाव की पहिचान नहीं है। इसमें कहीं अकेले केवली भगवान की बात नहीं है; किन्तु भगवान की भाँति इस आत्मा का भी अतीन्द्रियज्ञान और आनंदमय स्वभाव है; बाह्य विषयों से उसे ज्ञान या आनन्द नहीं होते, —इसप्रकार आत्मा के स्वभाव को पहिचानकर उसकी प्रतीति करने के लिये यह समझाते हैं।

आहार की वृत्ति छट्ठे गुणस्थान तक ही होती है, पश्चात् आहार की वृत्ति ही नहीं उठती। मुनिराज को छट्ठे गुणस्थान में जो आहार होता है, वह किस हेतु से होता है ?—मुनि अभी ज्ञानध्यान और संयम की साधना करते हैं और अनन्तवीर्यबल प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये वहाँ रत्नत्रय की आराधना के हेतु से आहार की वृत्ति होती है; किन्तु केवली भगवान को तो स्वभाव से ही अनंत ज्ञानादि वर्तते हैं; उन्हें अब कुछ साधना शेष नहीं रहा और अनंतबल प्रगट हो गया है; वहाँ उन्हें किसी भी हेतु से आहार नहीं हो सकता। जहाँ वीर्यबल अल्प है और इन्द्रियों के साथ उपयोग का सम्बन्ध है, वहीं आहारादि दोष होते हैं। जहाँ इन्द्रियों के साथ का सम्बन्ध छूट गया, और आत्मा स्वयं अतीन्द्रियज्ञान-आनंदरूप हो गया, वहाँ आहारादि नहीं होते। यह कोई संप्रदाय के आग्रह की बात नहीं है किन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। जिसे यथार्थ वस्तुस्वरूप समझना हो और आत्मा का कल्याण करना हो, उसे हठाग्रह छोड़कर यह बात समझना पड़ेगी।

केवलीभगवान आत्मा के स्वभाव से ही अतीन्द्रियज्ञान और सुखरूप परिणमित होकर पार

हो गये हैं; इसलिये उन भगवान को क्षुधाजनित दु:ख या आहारजनित सुख नहीं होता, अर्थात् क्षुधा या आहार होते ही नहीं। जिसप्रकार-जिसके नेत्रों में ही रात को देखने का सामर्थ्य है, उसे दीपक की क्या आवश्यकता? उसी प्रकार जिसके केवलज्ञानरूपी अतीन्द्रिय नेत्र खुल गये हैं—ऐसे भगवंतों को आहारादि नहीं होते! तथापि भगवान केवली परमात्मा को भी जो क्षुधा-आहार-जल या रोगादि का होना मानता है, वह केवली भगवान के स्वरूप को विपरीत मानता है, इसलिये देव की श्रद्धा में उसे विपरीतता है। जहाँ क्षुधा-तृषा-आहार-जल या रोगादि हों, वहाँ केवलज्ञान और पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द नहीं होता; इसलिये भगवान को आहारादि माननेवाला भगवान के पूर्णज्ञान-आनंद को नहीं मानता अर्थात् आत्मा के ज्ञान-आनंदस्वभाव को ही नहीं मानता; वह इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख को ही मानता है; इसलिये वह जीव वास्तव में आत्मस्वभाव का अर्थी नहीं है किन्तु विषयों का ही अर्थी है। सर्वज्ञभगवान को इन्द्रियों के बिना ही परिपूर्ण ज्ञान और सुख होता है—ऐसा यदि बराबर जाने तो उसे आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखस्वभाव की अवश्य प्रतीति हो; वह प्रतीति होने पर समस्त इन्द्रियविषयों में से सुखबुद्धि छूट जाये और अपने स्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द का अंशत: वेदन हो।

जय हो... उन अतीन्द्रिय आनंद के भोक्ता अनाहार अरिहंतों की!

आत्मा को सन्तुष्ट करने की अभिलाषा

जगत के जीवों ने ऐसा तो अनंतबार किया है जो दुनिया को पसन्द आये और जिससे वह सन्तुष्ट हो; किन्तु अपना आत्मा वास्तव में कैसे संतुष्ट होता है-उसे क्या अच्छा लगता है—उसका कभी विचार तक नहीं किया;—कभी दरकार ही नहीं की। जिसे सचमुच आत्मा को सन्तुष्ट करने की अभिलाषा जागृत हुई है, वह तो उसे सन्तुष्ट करके ही रहेगा। और, आत्मा को ''सन्तुष्ट होना'' अर्थात् आनन्दधाम में पहुँचना ही पड़ेगा। यहाँ जगत के जीवों को सन्तुष्ट करने की बात नहीं है, किन्तु जो अपना हित करना चाहता है—उसे क्या करना चाहिये, वह बात है। स्वभाव स्वयं ज्ञान -आनन्द से परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करे तो उसमें से कल्याण प्रगट हो, इसके अतिरिक्त तीन काल-तीन लोक में भी कहीं अन्यत्र से कल्याण नहीं हो सकता।

जीवों को यह बात महँगी मालूम होती है, इसलिये उन्हें विपरीत शल्य लग गई है कि कोई अन्य मार्ग ग्रहण करने से धर्म हो जायेगा। किन्तु भाई! अनन्त वर्षों तक बाह्य में देखता रहे तो भी तेरा आत्मधर्म प्रगट नहीं हो सकता! इसलिये पर का आश्रय छोड़कर स्वतत्त्व की रुचि करना... प्रेम करना... मनन करना ही सत्स्वभाव को प्रगट करने का उपाय है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जिन्हें अपना हित करना हो वे ऐसा करो! जिन्हें अपना हित करना होगा, उन्हें यही करना पड़ेगा।

अज्ञानी जीवों की बाह्य दृष्टि होने से वे ऐसा मानते हैं कि मैं पर का आश्रय लूँ तो धर्म हो; किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! सबका आश्रय छोड़कर अंतर में अपने आत्मा की श्रद्धा कर-आत्मा को प्रगट करने का आधार अंतर में है। आत्मा की पवित्रता और उसका आनन्द आत्मा में से ही प्रगट होते हैं,—बाह्य से कभी प्रगट नहीं होते।

(—पूज्य बहिनश्री बहिन द्वारा लिखित समयसार-प्रवचनों से)

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में आचार्यदेव ने ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार।

(अंक १३५ से आगे)

जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! अनादि से जिसे नहीं जाना है ऐसे आत्मा का स्वरूप जानकर मैं उसकी प्राप्ति करूँ और अब मेरे संसार-परिभ्रमण का अंत आकर मेरी मुक्ति हो—ऐसा स्वरूप मुझे समझाइये!

—इसप्रकार जो आत्मार्थी होकर समझना चाहता है—ऐसे शिष्य को आचार्य भगवान, आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं; उसका यह वर्णन चल रहा है।

(३८) कर्तृनय से आत्मा का वर्णन

''आत्मद्रव्य कर्तृनय से, रंगरेज की भाँति रागादि परिणामों का कर्ता है। जिसप्रकार रंगरेज रंगाई का काम करनेवाला है, उसी प्रकार कर्तानय से आत्मा, रागादि परिणाम का कर्ता है।''

'मैं अनन्तगुण का पिण्ड शुद्ध चिदानन्दस्वभाव हूँ, मेरे शुद्ध चैतन्य द्रव्य में राग का अंश भी नहीं है, इसलिये राग का कर्तृत्व मेरे स्वरूप में नहीं है'—ऐसी अंतर् स्वभाव की दृष्टिपूर्वक पर्याय में जो अल्पराग होता है, उसे साधक जीव अपना परिणमन जानता है, उसे कर्तृनय होता है। रागरहित चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि छोड़कर अकेले राग के कर्तृत्व में ही रुके, उसे यह कर्तृनय नहीं होता। पर का कर्ता हो, ऐसा कोई धर्म तो आत्मा में तीनकाल में नहीं है, और परवस्तु जीव को रागादिरूप परिणमित करे—ऐसा धर्म भी आत्मा में या परवस्तु में नहीं है।

यहाँ तो यह बात है कि जीव की पर्याय में जो राग होता है, उसका कर्ता कौन? वह जीवद्रव्य का परिणमन है; इसलिये जीव उसका कर्ता है—ऐसा कर्तृनय से जानना चाहिये। कर्म के उदय से जीव को विकार होता है—ऐसा शास्त्र में निमित्त से कथन भले हो, किन्तु वहाँ शुभाशुभ विकार होने का पर्याय-धर्म किसमें है?—विकाररूप से कौन परिणमित होता है? आत्मा स्वयं पर्याय में विकाररूप परिणमित होता है, इसलिये आत्मा का ही वह धर्म है, उसका कर्ता आत्मा है,

किन्तु जड़ कर्म नहीं है। यह साधक के नय की बात है। सिद्ध भगवान को राग भी नहीं है और नय भी नहीं है। जिसे अभी पर्याय में राग होता है—ऐसा साधक जीव कर्तृनय से ऐसा जानता है कि यह जो राग होता है, उसका कर्ता मैं हूँ, कोई दूसरा उसका कर्ता, प्रेरक या करानेवाला नहीं है; और न मेरे त्रिकाली चैतन्यस्वभाव में इस राग का कर्तृत्व है।—ऐसा जानना, वह अनेकान्त है।

समयसार के परिशिष्ट में जो ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, वे तो त्रिकाली स्वभावरूप धर्म हैं; वहाँ भी ४२ वीं शक्ति में 'कर्तृत्वशक्ति' का वर्णन किया है। वह कर्तृत्वशक्ति तो सर्व जीवों में है; सिद्ध में भी वह कर्तृत्व है। और यहाँ कर्तृनय से जिस कर्तृत्व का वर्णन किया है, उसमें तो राग के कर्तृत्व की बात है; वह त्रिकाली स्वभावरूप धर्म नहीं है, किन्तु क्षणिक पर्याय का धर्म है; वह पर्याय आत्मा की है; इसलिये उसे आत्मा का धर्म कहा जाता है।

प्रश्न:—राग करना तो दोष है, तथापि यहाँ उसे आत्मा का धर्म क्यों कहा ?

उत्तर:—वह आत्मा के त्रिकाली स्वभावरूप धर्म नहीं है, और वह मोक्षमार्गरूप धर्म भी नहीं है; किन्तु राग, आत्मा की पर्याय में होता है, उसे जबतक अपनी पर्याय में धारण कर रखे, तबतक वह आत्मा का अपना धर्म है और उसका कर्ता आत्मा है। अपनी पर्याय में होता है, इसलिये उसे अपना धर्म कहा है; वह त्रिकाल नहीं किन्तु क्षणिकपर्याय जितना है। कर्तृनय से इस राग के कर्तृत्व को जाननेवाला वास्तव में तो उसका साक्षी ही रहता है; क्योंकि राग के क्षणिक कर्तृत्व के समय ही दूसरे अनन्तधर्मों का शुद्धचैतन्यपिण्ड आत्मा है, उसकी दृष्टि में राग की मुख्यता नहीं रहती।

शुभ या अशुभभाव उनके अपने काल में होते हैं, उनका काल बदलता नहीं है—ऐसा जानकर उनका ज्ञाता रहा अर्थात् उस राग में न अटककर शुद्धचैतन्य स्वभाव की ओर ढल गया, वहाँ वे रागादि घटते जाते हैं। यदि शुभ-अशुभ को बदलने की बुद्धि करे तो मिथ्यात्व होता है; किन्तु शुद्धचैतन्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर उसका साक्षी रहा, वहाँ वह राग टूटता ही जाता है। राग होता है, उतनी अपनी पर्याय की योग्यता है; इसलिये वह भी अपना धर्म है। यहाँ प्रमाण के विषयरूप सामान्य-विशेषतात्मक द्रव्य बतलाना है; किन्तु उन दोनों पक्षों को जानने से ज्ञान की वृत्ति त्रिकाली शुद्ध द्रव्य की ओर ढलती है और पर्याय में से राग का कर्तृत्व दूर होता है।

राग का कर्ता, वह व्यवहार है और राग का अकर्ता अर्थात् साक्षी, वह निश्चय है।

प्रश्न:—पहला व्यवहार या निश्चय ?

उत्तर:—साधक को दोनों एक साथ हैं; किन्तु उनमें मुख्यता निश्चय की है और गौणता व्यवहार की। स्वभावदृष्टि के कारण साधक को पर्याय में राग का कर्तृत्व टलता जाता है और साक्षीपना बढ़ता जाता है–ऐसा जानना।

आत्मा में अनंत धर्म हैं, उनमें एक कर्ता नाम का धर्म है, इसलिये आत्मा रागादि के कर्तारूप से परिणमित होता है, किन्तु कोई पर उसे राग कराता है—ऐसा नहीं है। कर्म आत्मा को विकार कराते हैं—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने कर्तृत्वधर्म को नहीं जाना है; इसलिये कर्तृत्वधर्मवाले आत्मा को ही नहीं जाना।

प्रश्न:—रागादि का कर्ता होने का आत्मा का धर्म हो तो वे कैसे दूर होंगे ? आत्मा सर्दव रागादि ही करता रहेगा ?

उत्तर:—ना; ऐसा नहीं है। यह धर्म अनादि-अनंत नहीं है, किन्तु साधकदशा जितना ही है। और, ऐसा धर्म है—यह जान ले तो आत्मद्रव्य को भी जान ले और रागादि का साक्षी हो जाये। आत्मा वर्तमान पर्याय में रागादिरूप होता है—इसप्रकार जिसने आत्मा का धर्म द्वारा उसे जाना, उसकी दृष्टि एक गुण पर न रहकर अनंत गुण के पिण्ड शुद्धचैतन्य द्रव्य पर जाती है और राग का भी साक्षी हो जाता है। जो राग के कर्तृत्वरूप क्षणिक धर्म को जान ले, वह त्रिकाली धर्मी को भी जानता है, और त्रिकाली द्रव्य में तो राग का अकर्तृत्व है, उसकी मुख्यता से अल्पकाल में ही राग का कर्तृत्व दूर हो जाता है। पर्याय में राग हो, तभी तक का यह धर्म है—ऐसा समझना। उसके बाद कर्तृनय भी नहीं रहता और राग का कर्तृत्व भी नहीं रहता।

जिसप्रकार रंगरेज रंगाई-काम करनेवाला है, उसीप्रकार आत्मा स्वयं पर्याय में जबतक राग से रँगता है, तबतक वह राग का कर्ता है—ऐसा उसका कर्तृधर्म है।—किन्तु इस धर्म को माननेवाले की दृष्टि कहाँ होती है ? अनंतधर्मात्मक शुद्धचैतन्यद्रव्य पर उसकी दृष्टि होती है।

''सिद्धभगवान के कर्म नहीं है, इसलिये उन्हें विकार नहीं होता और संसारी के कर्म का उदय है; इसलिये उसे विकार होता है; इसलिये कर्म के उदयानुसार विकार होता है''—ऐसा कोई माने तो वह बात बिलकुल झूठ है। यदि उदय अनुसार ही विकार हो तो तीव्र में से मंद मिथ्यात्व करना भी जीव के हाथ में नहीं रहता, अशुभ को बदलकर शुभ करना भी जीव के हाथ में नही रहता। अरे! अनादि निगोद में से निकलकर त्रसपर्याय प्राप्त करना नहीं रहता; क्योंकि निगोद के जीव को तो सदैव स्थावरनामकर्म का उदय वर्तता है, इसलिये वह निगोद से निकलकर कभी त्रस

हो ही नहीं सकता! इसलिये उदयानुसार जीव को विकार होता है—यह मान्यता तो महान विपरीत है। ''तीव्र मिथ्यात्व का उदय होगा तो मुझे तीव्र मिथ्यात्व करना ही पड़ेगा''—ऐसा मिथ्यात्व का जोर उसके अभिप्राय में विद्यमान है। यहाँ भगवान अमृतचनद्राचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं कि कर्म के उदयानुसार विकार नहीं होता, किन्तु जीव के कर्तृधर्म अनुसार विकार होता है, अर्थात् जीव स्वयं अपने राग परिणाम का कर्ता है। कर्म विकार कराते हैं, यह बात तो है ही नहीं; और ''मैं राग का कर्ता हूँ''—इसप्रकार अकेले राग की ओर देखकर मान लेने की भी यह बात नहीं है; यहाँ तो, साधक जीव ने अनंतधर्मवाले शुद्धचैतन्य द्रव्य को जाना है और उस द्रव्य की दृष्टिपूर्वक पर्याय के राग का ज्ञान करता है, उसकी यह बात है। शुद्धचैतन्यद्रव्य पर ही उसकी दृष्टि का जोर होने से उसके अल्पकाल में विकार का परिणमन दूर होकर दिव्य महिमावान् केवलज्ञान प्रगट हो जायेगा।

यथार्थनय से धर्म को देखने पर उसके आधाररूप धर्मी भी दृष्टि में आता है, इसलिये स्वभावोन्मुखता होकर अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहती;—इसप्रकार सम्यक्नयों का फल मोक्ष है।

''कर्तृनय से आत्मा विकार का कर्ता है''—ऐसा कहा, तथापि मात्र विकार की ओर देखकर यह धर्म नहीं माना जाता, किन्तु आत्मद्रव्य की ओर देखकर उसे जाना जाता है; क्योंकि यह धर्म आत्मा से बाहर नहीं है; इसलिये यह धर्म माननेवाले को बाह्य में देखना नहीं रहता। विकार का परिणमन पर के कारण नहीं होता किन्तु आत्मद्रव्य का वैसा कर्तृधर्म है-ऐसा नयज्ञान से देखने पर ज्ञान आत्मोन्मुख होता है, और वहाँ राग के कर्तृत्व की मुख्यता नहीं रहती किन्तु परिपूर्ण द्रव्य की मुख्यता हो जाती है। इसप्रकार शुद्धस्वभाव की ओर दृष्टि रखकर पर्याय में राग के कर्तृत्व का ज्ञान करे, उसी को ''कर्तृनय'' होता है। दूसरे को कर्तृनय नहीं होता। ''नय'' है, वह सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य की किरण है; अज्ञानी के नय नहीं होते।

कर्तृनय से भी आत्मा, शरीरादि पर का कर्ता तो है ही नहीं, मात्र अपनी पर्याय में रागादि का कर्ता है; और वह कर्तृत्व भी त्रिकाली स्वभाव नहीं है; जबतक रागरूप से परिणमित होता है, तभी तक उसमें कर्तृत्व है; और उस समय भी स्वभावदृष्टि में तो शुद्धचेतना का ही कर्तृत्व वर्तता है। कर्तृनय से आत्मा को देखे, उसे भी ऐसा नहीं लगता कि मेरा आत्मा सदैव रागादि का ही तो कर्ता रहेगा! कर्तृनयवाले को भी प्रतिक्षण पर्याय में से राग का कर्तृत्व कम होता जाता है और साक्षीपने में वृद्धि होती जाती है। इस समय राग का कर्ता है, ऐसे मेरे आत्मा का एक धर्म है;—इस प्रकार

कर्तृनय से देखनेवाला भी धर्म द्वारा धर्मी ऐसी शुद्ध चैतन्यवस्तु को अंतर में देखता है; इसलिये कर्तृनय का फल राग का कर्ता रहना नहीं है, किन्तु शुद्धचैतन्यद्रव्य के अवलम्बन से राग दूर हो जाये, वह कर्तृनय का फल है।

प्रश्नः—समयसार में तो ऐसा कहा है कि आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, वह राग का कर्ता नहीं है, राग का कर्ता तो पुद्गल है; और यहाँ ऐसा कहा है कि राग का कर्तृत्व, वह आत्मा का धर्म है;—तो इन दो कथनों का मेल किसप्रकार है ?

उत्तरः—समयसार में द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से राग को पुद्गल का कार्य कहा, और यहाँ प्रमाण के विषय में पर्याय का ज्ञान कराने के लिये उसे आत्मा का कार्य कहा है, तथापि उसमें परस्पर विपरीतता नहीं है, दोनों का तात्पर्य एक ही है। ''राग का कर्ता आत्मा नहीं है''—ऐसा कहकर समयसार में शुद्धद्रव्यदृष्टि कराने का तात्पर्य है; और यहाँ भी, ''कर्तृनय से राग का कर्ता आत्मा है''—ऐसा कहकर उस धर्म द्वारा भी धर्मी ऐसे शुद्ध चैतन्यद्रव्य का ही लक्ष कराने का तात्पर्य है। शास्त्रों की कथनशैली में फेर भले हो, किन्तु उनके फल में फेर नहीं है; फल तो यही है कि अंतर में शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की प्राप्ति हो। यहाँ कर्तृनय से आत्मा को राग का कर्ता कहा, उसमें भी राग के कर्तृत्व में रोक रखने का आशय नहीं है, किन्तु उस धर्म के धारक ऐसे त्रिकाली आत्मद्रव्य की पहिचान कराके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कराने का ही प्रयोजन है।

''कर्तृनय से रागादि का कर्ता है।''

— कौन ?

— आत्मद्रव्य !

— इसलिये कर्तृनय से देखनेवाले की दृष्टि किस ओर गई ?

— अनंतधर्मों वाले आत्मद्रव्य की ओर उसकी दृष्टि गई।

—यह बात तो पहले से ही भारपूर्वक कहते आये हैं कि अनंत धर्मों के पिण्ड ऐसे शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को देखना ही इन सब नयों का परमार्थ तात्पर्य है। जहाँ शुद्ध आत्मद्रव्य को दृष्टि में लिया, वहाँ राग के कर्तृत्व में बुद्धि हो—ऐसा नहीं होता; अल्पकाल में ही राग का परिणमन छूट जाता है।

कर्तृनय से आत्मा को राग का कर्ता माना, इसलिये अब वह आत्मा अनादि-अनंत राग का कर्ता ही रहेगा—ऐसा नहीं है; क्योंकि इस धर्म को देखनेवाला भी अकेले धर्म को ही नहीं देखता

किन्तु धर्मी ऐसे शुद्ध आत्मा को देखता है, और शुद्ध आत्मा को देखनेवाला राग में नहीं अटकता, अर्थात् ''मैं रागरूप ही रहूँगा''—ऐसी प्रतीति वह नहीं करता, उसे तो निःशंकता है कि मैं अपने शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप से परिणमित होकर अल्पकाल में ही इस राग का अभाव कर दूँगा। इस समय रागरूप से जितना परिणमन है, उतना मेरा धर्म है (—राग से जीव को धर्म होता है—ऐसा यहाँ नहीं समझना चाहिये, किन्तु राग, वह जीव का भाव है, आत्मा स्वयं ही रागरूप परिणमित हुआ हैं, इसलिये उसे आत्मा का धर्म कहा है—) ऐसा धर्मी जानता है; किन्तु मैं सदैव रागरूप ही परिणमित होता रहूँगा—ऐसा वह नहीं देखता; वह तो अंतर में निज आत्मद्रव्य को शुद्ध चैतन्यमात्र देखता है, उसके निकट उसे राग की अत्यन्त तुच्छता भासित होती है, इसलिये राग दूर हो ही जाता है।

''आत्मा को राग का कर्तृत्व स्वीकार करने से तो वह अनादि अनंत हो जायेगा!—इसलिये कर्म को ही राग का कर्ता कहो''—ऐसा किसी को विचार आये तो वह मिथ्या है, कर्तृनय के अभिप्राय को वह समझा ही नहीं है। हे भाई! कर्तृधर्म किसका है?—आत्मद्रव्य का है। वह आत्मद्रव्य कैसा है?—अनंतधर्म के पिण्डरूप शुद्धचैतन्यमात्र है। ऐसे आत्मद्रव्य का दृष्टिपूर्वक जिसने कर्तृनय से राग का कर्तृत्व जाना, उसके राग की वृद्धि नहीं होती, किन्तु स्वभावदृष्टि के बल से वह कम ही होता जाता है।

पुनश्च, कोई ऐसा कहे कि—''कर्म आत्मा को विकार नहीं कराते, किन्तु कर्तृनय से आत्मा विकार करता है—ऐसा हमने मान लिया!''—तो उससे पूछते हैं कि हे भाई! तेरी दृष्टि कहाँ है? किसके सामने दृष्टि स्थिर करके तू कर्तृधर्म को स्वीकार करता है? विकार पर तेरी दृष्टि है या आत्मद्रव्य पर? विकार पर दृष्टि रखने से आत्मा के धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं होता—आत्मद्रव्य पर दृष्टि रखने से ही उसके धर्म का यथार्थ ज्ञान होता है, इसलिये कर्तृनय से राग का कर्तृत्व जाननेवाले की दृष्टि भी शुद्धआत्मद्रव्य पर ही होती है; और शुद्ध आत्मा पर दृष्टि हो, उसके विकार का कर्तृत्व दूर होकर अल्पकाल में वीतरागता हुए बिना नहीं रहती। इसप्रकार अनन्तधर्म के पिण्डरूप शुद्ध आत्मद्रव्य को दृष्टि में रखकर समझे, तभी सर्व कथनों का यथार्थ तात्पर्य समझ में आता है।

—यहाँ ३८ वें कर्तृनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

[३९] अकर्तृनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य अकर्तृनय से मात्र साक्षी ही है; जिसप्रकार रंगरेज अपनी रँगाई में प्रवृत्त हो और उसे कोई दूसरा पुरुष देख रहा हो; वहाँ वह देखनेवाला पुरुष यह जानता है कि रँगाई कैसे हो रही है; किन्तु वह उसका कर्ता नहीं है—साक्षी ही है। उसीप्रकार अकर्तृनय से आत्मा रागादि का कर्ता नहीं है किन्तु साक्षी है।

यहाँ पर की बात नहीं है; पर का तो आत्मा अकर्ता ही है; और अपनी पर्याय में राग होता है, उसका भी अकर्ता-साक्षी ही है—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। राग के समय भी उसके अकर्तारूप स्वभाव आत्मा में विद्यमान है। पहले राग के कर्तारूप धर्म कहा और यहाँ राग के अकर्तारूप धर्म कहा है; वे दोनों धर्म कहीं पृथक्-पृथक् आत्माओं के नहीं है; एक आत्मा में वे दोनों धर्म एक साथ वर्तते हैं। जिससमय पर्याय में राग है, उसीसमय द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखें तो ज्ञायकस्वभावरूप आत्मा, रागादिरूप से परिणमित ही नहीं हुआ है।

यह आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है। आत्मा अनंत धर्म के स्वभाववाला शुद्धचैतन्यस्वरूप है; दृष्टिपूर्वक इन धर्मों का ज्ञान करना, वह नय है।

समयसार में ऐसा कहा है कि अज्ञानदशा में मिथ्यादृष्टि जीव, राग का कर्ता होता है और भेदज्ञान होने पर सम्यग्दृष्टि जीव, रागादि का अकर्ता है;—यहाँ ऐसी शैली नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव भी पर्याय में जो राग होते हैं, उसका कर्ता है और उसीसमय उसका अकर्ता भी है—ऐसे दोनों धर्म उसमें एक साथ हैं।

जिस समय कर्तृनय से ज्ञानी, पर्याय के राग का कर्तृत्व जानता है, उससमय भी उसकी दृष्टि में आत्मा का शुद्धचैतन्यस्वभाव विद्यमान है, इसलिये राग का अकर्तृत्व भी उसके वर्तता है। विकार मेरा अंश है। वह अंश है किन्तु पूर्ण अंशी नहीं है-पूर्ण अंशी तो अनंत धर्मी का चैतन्यपिण्ड है; ऐसा जिसने जाना, वह शुद्धचैतन्यस्वभाव की प्रधानता में राग का साक्षी ही रहता है, उसे अकर्तृनय होता है। समस्त धर्मों के आधाररूप ऐसे निज आत्मद्रव्य पर दृष्टि रखकर धर्मी जीव उसके धर्मों को जानता है;—अकर्तृनय से आत्मा को राग का अकर्ता-साक्षी स्वरूप भी जानता है और कर्तृनय से राग परिणामों का कर्ता भी जानता है;—किन्तु दृष्टि में तो शुद्धचैतन्य द्रव्य की ही प्रधानता होने से पर्याय में से राग का कर्तृत्व छूटता जाता है और साक्षीपने में वृद्धि होती जाती है।

रँगाई का काम करनेवाले रंगरेज को अच्छा काम होने से राग और बुरा काम होने से द्वेष

होता है, किन्तु जो मध्यस्थरूप से देखनेवाला है, उसे कुछ नहीं होता; वह तो मात्र साक्षीरूप से देखता ही है। उसीप्रकार आत्मा में एक ऐसा अकर्ता स्वभाव है कि वह राग का कर्ता नहीं होता, किन्तु साक्षी ही रहता है। जिससमय जैसा राग हो, उससमय उसका वैसा ही ज्ञान करता है; किन्तु इससमय अमुक ही प्रकार का राग उत्पन्न करूँ—ऐसा अभिप्राय नहीं करता; इसलिये साक्षी ही रहता है। कर्तृनय से राग का कर्ता और उसीसमय अकर्तृनय से उसका साक्षी—इसप्रकार दोनों धर्मों को एकसाथ धारण करनेवाला आत्मा अनेकान्त स्वभावी है। ऐसे धर्मों द्वारा आत्मा को जानने से वीतरागी दृष्टि होने का प्रसंग आता है—मात्र राग के कर्तृत्व में अटकने का प्रसंग नहीं रहता।

एक आत्मा में एक साथ अनंत धर्म विद्यमान हैं। जिस क्षण वह पर्याय में रागरूप परिणमित होता है, उसी क्षण द्रव्यस्वभाव से रागरूप परिणमित नहीं होता। आत्मा रागरूप परिणमित होता ही नहीं—इसप्रकार सर्वथा एकान्तशुद्ध माने तो अज्ञानी है; और सर्वथा रागरूप परिणमित होनेवाला ही माने किन्तु राग के अकर्तारूप रहने का जो साक्षी स्वभाव है, उसे न जाने तो वह भी अज्ञानी ही है। धर्मी साधक जानता है कि पर्याय में राग का परिणमन है और उसी क्षण स्वभावदृष्टि से मैं रागरूप परिणमित नहीं होता, इसलिये उस क्षण भी वीतरागी साधकदशा के परिणमन में वृद्धि होती जाती है। जिस क्षण रागपरिणाम का कर्तृत्व जानता है, उसी क्षण स्वभाव के आधार से राग के अकर्तारूप वीतरागी साक्षीपना भी बढ़ता ही जाता है; यदि राग के कर्तृत्व के समय ही उसके अकर्तारूप वीतरागी परिणमन न वर्तता हो तो साधकपना ही नहीं रहेगा।

प्रश्नः—सैंतीसवें नय से भी साक्षीधर्म का वर्णन किया और इस उन्तालीसवें नय से भी;—तो उनमें अंतर क्या?

उत्तरः—सैंतीसवें नय में गुणग्राहीपने का जो विकल्प है, उसके समक्ष साक्षीपना कहा है; यहाँ उन्तालीसवें नय में राग के कर्तृत्व के समक्ष साक्षीपना कहा; और अभी इकतालीसवें नय में भी साक्षीपना कहेंगे; वहाँ हर्ष-शोक के भोक्तृत्व के समक्ष साक्षीपना कहा है। इसप्रकार ३७, ३९ और ४१ वें नय में कहे हुए तीनों साक्षीधर्मों में विवक्षाभेद है, किन्तु तात्पर्य तो तीनों का एक ही है।

(१) गुणग्राहीपने के विकल्प के समय भी शुद्धस्वभाव की दृष्टि से साधक जीव को साक्षीपने में वृद्धि होती जाती है, इसलिये विकल्प की मुख्यता नहीं होती।

(२) उसीप्रकार राग का कर्तृत्व जानते समय भी शुद्धस्वभाव की दृष्टि के कारण साधक जीव को साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है, इसलिये राग की मुख्यता नहीं होती।

(३) चालीसवें नय में हर्ष-शोक का भोक्तृत्व कहेंगे; उसे जानते समय भी साधन को स्वभावदृष्टि के कारण साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है, इसलिये उसे हर्ष-शोक के भोक्तृत्व की मुख्यता नहीं होती।

नयों में मुख्य-गौण होता है, किन्तु परिणमन में मुख्यता-गौणता नहीं है; अर्थात् कर्तानय और अकर्तानय—ऐसे दो नय एक साथ उपयोगरूप नहीं होते, किन्तु उन दोनों के विषयरूप धर्म एक साथ वर्तते हैं। साधक जब कर्तृनय से राग के कर्तृत्व को देखता है, उससमय भी अकर्ता साक्षीभावरूप वीतरागी अंश का परिणमन तो वर्त ही रहा है; उससमय भले ही अकर्तानय उपयोगरूप न हो किन्तु साक्षीधर्म तो है ही। सम्यग्दृष्टि को शुभाशुभराग के समय भी उसके अकर्तृत्व का परिणमन तो हो ही रहा है। ऐसा परिणमन कब होता है ? त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी द्रव्य, राग का अकर्ता और पर्याय में क्षणिक राग का कर्तृत्व-दोनों का यथार्थ ज्ञान करके, पर्याय ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुई, वहाँ उस के आश्रय से अकर्तारूप परिणमन प्रारम्भ हुआ और राग का कर्तृत्व छूटने लगा। दृष्टि में से तो राग का कर्तृत्व सर्वथा छूट गया है, किन्तु परिणमन में राग का कर्तृत्व क्रमशः छूटता है; वहाँ साधक के नय होते हैं। किन्तु सर्वथा राग के कर्तृत्व में ही रहे और अकर्तृत्व—साक्षीपना किंचित् न रखे, तो वह जीव एकान्तदृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि है; उसे एक भी नय सच्चा नहीं होता। "कर्तृनय से राग का कर्ता है"—ऐसा नय भी उसके सच्चा नहीं है; क्योंकि एक नय के समय दूसरे नय की विवक्षा का ज्ञान भी साथ हो, तभी वह नय सम्यक् है।

आत्मा रागरूप से परिणमित होता है, वह पृथक् धर्म है और रागरूप परिणमित नहीं होता —ऐसा दूसरा धर्म है; उसमें से राग के कारण नहीं, किन्तु राग के अकर्ता धर्म के कारण आत्मा निश्चय रत्नत्रयरूप से परिणमित होता है, इसलिये व्यवहाररत्नत्रय के राग द्वारा निश्चयरत्नत्रय प्राप्त हो, यह बात नहीं रहती; क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय का राग तो कर्ताधर्म में जाता है और निश्चयरत्नत्रय तो राग के अकर्ता धर्मरूप है; इसलिये वे दोनों पृथक् हैं। आत्मा के अनंतधर्म हैं, वे पर के कारण तो नहीं है और स्वयं में भी एक धर्म के कारण दूसरा धर्म नहीं है।

कर्तृनय से आत्मा को राग का कर्ता कहा था, वहाँ जितना राग है, उतना बाधकपना है; किन्तु साथ ही साथ साधकत्व—राग का अकर्तृत्व बना ही है। राग का कर्तृत्व बाधकपने में जाता है और उसी समय चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से राग के साक्षीपनेरूप साधकत्व है, और वहीं ऐसे नय होते हैं। अकेले बाधकपने में नय नहीं होते, और साध्य पूर्ण सिद्ध हो जाये, वहाँ भी नय नहीं होते।

साधकत्व में नय होते हैं, उन नयों द्वारा साधकजीव वस्तु की साधना करता है।

वस्तु अनंत धर्मवाली है, वे उस वस्तु की अपेक्षा से समस्त धर्म सापेक्ष हैं, और धर्म की अपेक्षा से प्रत्येक धर्म निरपेक्ष है, अर्थात् एक धर्म दूसरे धर्म के कारण नहीं है। यदि धर्मों में परस्पर ऐसी निरपेक्षता न हो तो अनंतधर्म सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी। राग के कर्तृत्वरूप जो धर्म है, उसके कारण कहीं अकर्तृत्वरूप धर्म नहीं है, किन्तु स्वतंत्र हैं। आत्मा रागरूप परिणमित होता है, वह कर्ताधर्म और उसी समय जितना रागरहित ज्ञायक साक्षीरूप परिणमित होता है, वह अकर्ता धर्म है। एक साथ ही दोनों का स्वतंत्र परिणमन हो रहा है।

वस्तु के परिणाम उससे पृथक् नहीं होते। जिस क्षण रागपरिणाम होते हैं, उस क्षण आत्मा उनका कर्ता है; देव-गुरु के कारण या कर्मोदय आदि निमित्तों के कारण वह राग नहीं हुआ है, और उस राग के कर्तृत्व के कारण अकर्ता धर्म (सम्यग्दर्शनादि) नहीं होता। केवली-श्रुतकेवली के निकट क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है, वह कहीं निमित्त के धर्म के कारण या राग के कारण नहीं होता, किन्तु अपने राग के अकर्तारूप स्वभाव से होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने से पूर्व जितनी मलिनता थी, उतना कर्ताधर्म था, और क्षायिक सम्यक्त्व की निर्मलता होने से वह मलिनता दूर होकर अकर्तारूप साक्षीपने का परिणमन हुआ। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होने से शुद्धता हुई और कुछ अंशों में मलिनता भी रही—वे दोनों जीव के धर्म हैं; किन्तु उनमें शुद्धता के कारण मलिनता या मलिनता के कारण शुद्धता नहीं है। राग के परिणमन के समय ही साधक को ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से राग के अकर्तारूप परिणमन भी साथ ही है। यदि राग के समय उसके अकर्तारूप साक्षीधर्म का परिणमन न हो तो उस जीव को शुद्धद्रव्यस्वभाव का ज्ञान नहीं है; और वह साधक नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है—ऐसा जानना।

आत्मा, पर की क्रिया का तो साक्षी है और शुभाशुभराग होता है, उसका भी साक्षी है। राग के समय मेरा ज्ञायकस्वभाव इस राग से भिन्न है—ऐसा जिसे ज्ञान हो, वही ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से राग का साक्षी रह सकता है। मिथ्याज्ञानी तो एकान्त पर की ओर तथा राग की ओर ही देखनेवाला है; उसे साक्षीपने का भान नहीं है; इसलिये उसके नय नहीं होता। साधक अपने आत्मा की ओर दृष्टि रखकर राग का साक्षी रहता है, उसके यह नय होता है। राग होता है, वह पर्याय का स्वभाव है; जिस पर्याय में राग होता है, उसी पर्याय का वह स्वभाव है; दूसरी पर्याय में उसका अभाव है; वह आत्मा का स्थायी स्वभाव हो तो कभी दूर नहीं हो सकता, किन्तु क्षणिक पर्याय का

धर्म होने से वह दूर हो सकता है। राग को क्षणिक पर्याय का धर्म कहने से उसमें यह बात आ गई कि पर के या कर्मोदय के कारण राग नहीं हुआ है,—जो जिसका धर्म हो, वह दूसरी वस्तु के कारण नहीं हो सकता। पर्याय में राग और उसीसमय उसका साक्षीपना—यह दोनों धर्म साधक को एक साथ वर्तते हैं, तथापि एक के कारण दूसरा धर्म नहीं है।

"राग है, इसलिये उसे जानता है ?"—नहीं; राग के कारण साक्षीपना नहीं है, साक्षीपना तो एक स्वतंत्र स्वभाव है।

जो जीव मोक्षमार्ग की साधना करता है, उसकी यह बात है। यदि मात्र परोन्मुखता ही हो तो राग के साथ एकमेकपने का मिथ्यात्व है; वहाँ साक्षीपना नहीं है; इसलिये उसके नय नहीं हैं। जिससमय राग हो, उसीसमय राग से पृथक् रहकर उसके साक्षीपनेरूप परिणमित होता है—ऐसा साधक का धर्म है। उसमें राग के कारण साक्षीपना नहीं है। यदि एक धर्म दूसरे धर्म के कारण हो तो उस धर्म की हीनता होती है अर्थात् वह धर्म स्वतंत्र सिद्ध नहीं होता। वस्तु की अपेक्षा से देखने पर सभी धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, किन्तु प्रत्येक धर्म स्वयं अपने से है।

जिसप्रकार—एक आत्मा अपनेरूप है और पररूप नहीं है—ऐसा अंतर कब ज्ञात होता है ?—कि मेरे धर्म मुझमें और पर के धर्म पर में,—इसप्रकार दोनों के धर्मों की पृथक्ता निश्चित् करे तो दोनों के बीच अंतर पड़े; वस्तु के धर्म उसे पर से भिन्न बतलाते हैं; किन्तु मेरे धर्म पर के कारण और पर के धर्म मेरे कारण—ऐसा जो मानता है, उसे दो वस्तुओं के बीच अंतर नहीं पड़ता।

उसीप्रकार—एक वस्तु के दो धर्मों के बीच अंतर कब पड़ता है ?—कि दोनों को एक दूसरे से स्वतंत्र जाने तो; वस्तु में एक साथ अनेक धर्म हैं किन्तु उनमें एक धर्म के कारण दूसरा धर्म नहीं है। आत्मा एक साथ अनंत धर्मोंवाला है; उसके बदले अकेले राग के कर्तृत्व को ही देखे और साक्षीरूप अकर्ता स्वभाव को न देखे तो उसने आत्मा की ओर देखा ही नहीं—एकान्त राग की ओर देखा है; इसलिये उसे चैतन्यस्वरूप आत्मा की सिद्धि नहीं होती।

नय सम्यग्ज्ञान का अंश है। राग के कर्तृत्व को जाननेवाला जो ज्ञान का अंश है, वह भी राग का साक्षी ही रहता है, वह ज्ञान, राग के साथ एकमेक नहीं हो जाता, किन्तु उससे भिन्न ही रहता है; और उसीसमय राग के अकर्तारूप निश्चयस्वभाव का भान भी साथ ही वर्तता है। इसप्रकार साधक को निश्चय-व्यवहार दोनों एक साथ होते हैं। पहले व्यवहार और फिर निश्चय-ऐसा नहीं है। क्षणिक पर्याय में राग का कर्ता है, वह व्यवहार और त्रिकालीस्वभाव से राग का अकर्ता है, वह

निश्चय;—वे दोनों अपने-अपने कारण एक समय में ही हैं। कोई ऐसा कहे कि—पहले व्यवहार परिणमित होता है और फिर व्यवहार, निश्चय का कारण होता है, तो वह बात बिलकुल मिथ्या है। राग के कर्तारूप व्यवहार के समय ही यदि अकर्तास्वभाव का भान न वर्तता हो तो उसे राग के साथ एकत्वबुद्धि होने से मिथ्यात्व है, उसकी दृष्टि एकान्त राग पर पड़ी है, इसलिये उसका भी नय सच्चा नहीं है। मात्र राग का कर्ता होकर कर्ताधर्म और अकर्ताधर्म (साक्षीधर्म) को नहीं जाना जा सकता; किन्तु स्वयं शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करके राग का अंशतः अकर्ता हुआ है और अभी अंशतः राग का कर्तृत्व भी है—ऐसे साधक को दोनों धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है।

यह बात किसे समझाते हैं? जिस शिष्य ने जिज्ञासापूर्वक पूछा कि प्रभो—आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है?—उसे यह समझाया जा रहा है। जिसे आत्मा को समझने की जिज्ञासा नहीं है—रुचि नहीं है, वह तो यह बात सुनने के लिये खड़ा भी नहीं रहेगा। "प्रभो! आत्मा का स्वरूप क्या है? उसका अनुभव कैसे होता है?"—ऐसे विनयपूर्वक पूछनेवाले शिष्य को आत्मा समझने की जिज्ञासा है, सच्चे गुरु की श्रद्धा है, कुदेवादि की मान्यता छूट गई है, स्वर्गादि की प्राप्ति कैसे हो—उसकी भावना नहीं है, किन्तु आत्मा के आनन्द का अनुभव कैसे हो, वही भावना है। ऐसे सुपात्र जीव को आचार्यदेव यहाँ आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। इस उपदेशानुसार आत्मा का स्वभाव समझकर वह जीव साधक हुए बिना नहीं रहेगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि देख भाई! पर्याय में जिस क्षण राग होता है, उसी क्षण उससे अधिक रहकर साक्षीरूप रहने का तेरा स्वभाव है। राग का कर्तृत्व तो क्षणपर्यंत है, वह तेरा स्थायी स्वभाव नहीं है। तू तो अनंत धर्म के पिण्डरूप शुद्धचैतन्यद्रव्य है। "कर्तृनय से राग के कर्तृत्व का धर्म कहा, इसलिये जैसा राग होना होगा, वैसा होता रहेगा"—इसप्रकार एकान्त राग को ही देखे और उसी समय अनंत धर्मों का पिण्ड आत्मा है, उसे न देखे तो वह एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि है। उसे कर्तृनय की भी खबर नहीं है। जो अनन्त धर्मों के चैतन्यपिण्डरूप आत्मस्वभाव को देखता है, वह जीव मात्र राग में नहीं अटकता। कर्तृनय से राग के कर्तृत्व को जानता अवश्य है किन्तु उसी में अटक नहीं जाता। जिस क्षण राग होता है, उसी क्षण स्वद्रव्योन्मुखता से वह राग से अधिक होकर साक्षीरूप से परिणमित होता है;—इसप्रकार साधक को दोनों धर्म एक साथ परिणमित होते हैं; किन्तु उसमें साक्षीपने की वृद्धि तो होती ही जाती है और राग कम होता रहता है। अल्पकाल में ही उसके कर्तृधर्म दूर हो जाता है और साक्षात् अकर्ता साक्षी स्वरूप हो जाता है। समयसार के परिशिष्ट

में जो ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, उनमें अकर्तृत्व शक्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि आत्मा ज्ञातृत्व के सिवा रागादि परिणामों का कर्ता नहीं होता—ऐसी उसकी अकर्तृत्वशक्ति है।

यहाँ ३८ वें तथा ३९ वें नय से कर्ताधर्म और उसके समक्ष अकर्तारूप साक्षीधर्म का वर्णन किया; उसीप्रकार अब ४०-४१ वें नय से भोक्ताधर्म तथा उसके समक्ष अभोक्तारूप साक्षीधर्म का वर्णन करेंगे।

—इसप्रकार ३९ वें अकर्तृनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

तेरे अतीन्द्रिय-आनंद का धाम

[वीर सं. २४८१ वैशाख शुक्ला १ के दिन प्रवचनसार गाथा २६ के प्रवचन से]

आचार्य भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में झूल रहे हैं... अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हुए उन संतों की वाणी में भी अतीन्द्रिय आनन्द झर रहा है...

हे भाई! तुझे ऐसा नहीं लगता कि आत्मा में देखने से शांति का वेदन होता है और बाह्य में दृष्टि करने से अशांति का वेदन होता है!! इसलिये निर्णय कर कि शांति का-सुख का-आनंद का क्षेत्र तुझमें ही है, तुझसे बाहर कहीं सुख-शांति या आनंद नहीं है.. नहीं है.. नहीं है।

—पूज्य गुरुदेव

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, जिनेन्द्र भगवान के वह ज्ञानस्वभाव परिपूर्ण विकसित हो गया है, इसलिये भगवान समस्त पदार्थों को जानते हैं। समस्त पदार्थों को जानने पर भी भगवान अपने स्वरूप में ही स्थिर रहते हैं। आत्मा के आनन्दस्वभाव का उदाहरण देकर यहाँ आचार्यदेव वह बात समझाते हैं।

जितने क्षेत्र में सुख का संवेदन होता है, उतना ही आत्मा है, और उस आत्मा जितना ही ज्ञान है। हे जीव! जितने क्षेत्र में आनंद का वेदन होता है, उतने ही क्षेत्र में तू है, तेरे क्षेत्र से बाहर तेरा आनंद नहीं है। आत्मा को अपने असंख्य प्रदेशों में ही आनंद का वेदन होता है, उस आनंद का

विस्तार होकर कहीं बाह्य में नहीं फैलता, इसलिये आत्मा से बाहर किन्हीं पदार्थों में आनंद नहीं है, और उन किन्हीं पदार्थों के आश्रय से आत्मा का आनंद नहीं है। जहाँ आनंद का स्वसंवेदन होता है, वहीं आनंदस्वभाव भरा है, और जितना आत्मा है, उतना ही ज्ञान है। लोकालोक को जानने पर भी ज्ञान, आत्मा के क्षेत्र से बाहर नहीं निकलता। जिसप्रकार आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद के लिये बाह्य पदार्थों का आश्रय नहीं है, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान के लिये भी बाह्य पदार्थों का आश्रय नहीं है। आत्मा अतीन्द्रियज्ञान और आनंदस्वभावरूप है; उसमें अन्तर्मुख होकर एकाग्र होने से भीतर सुख का संवेदन होता है; जहाँ वह सुख का संवेदन होता है, वहीं आत्मा है; आत्मा स्वयं उस आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण है और उसी के आधार से आनन्द का वेदन होता है। जिसप्रकार आनंद का और आत्मा का क्षेत्र एक है; उसी प्रकार आत्मा का और ज्ञान का क्षेत्र भी एक है; इसलिये आत्मा से भिन्न ऐसे अन्य पदार्थों में ज्ञान व्याप्त नहीं होता।

केवलज्ञान लोकालोक को जानता है, तथापि वह आत्मा का आश्रय छोड़कर वह बाह्य में नहीं वर्तता; चैतन्यस्वभाव में रहकर ही जानता है। जिसप्रकार आत्मा के आनंद का वेदन स्वद्रव्य में रहकर ही होता है, आनंद में पर का आश्रय नहीं है, और न आनन्द पर में व्याप्त होता है; उसीप्रकार आत्मा का ज्ञान भी वास्तव में पर में विस्तृत नहीं होता।

सचमुच ऐसा होने पर भी ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिये लोकालोक को जाननेवाले निमित्तरूप से ज्ञान को लोकालोक में व्यापक कहकर उसका परिपूर्ण स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य बतलाया; तथापि ज्ञान वास्तव में आत्मा से बाहर नहीं जाता और पर में व्याप्त नहीं होता। पर को जानता तो अवश्य है किन्तु पर में व्याप्त नहीं होता, यह बात स्पष्ट करने के लिये आचार्य भगवान ने ज्ञान के साथ अबिनाभावी ऐसे आनंद का उदाहरण दिया। देखो, आचार्यदेव ने उदाहरण भी कैसा सुन्दर दिया है!

ज्ञान के साथ जो आनंद है, वह कहाँ है?—तो कहते हैं कि आत्मा में है। आत्मा के आधार से हैं, आत्मा में ही व्यापक है; जितने में आत्मा है, उतने में ही वह आनंद है। आनंद तो निमित्तरूप से भी पर में व्यापक नहीं है। उसी प्रकार उसी आनंद के साथ का जो ज्ञान है, वह भी उतने में ही व्यापक है जितने में सुख है; इसलिये आत्मा में ही विद्यमान है, उससे बाहर नहीं है। मात्र उसका स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य बतलाने के लिये ज्ञान को लोकालोक व्यापक कहा जाता है।

जितने 'सुख' का संवेदन होता है, उतने में ही आत्मा है, और जहाँ आत्मा है, वहीं ज्ञान है-

ऐसा आचार्यदेव ने कहा है। अब यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सुख की भाँति दुःख भी आत्मा के ही क्षेत्र अनुसार है, तथापि यहाँ सुख का ही उदाहरण क्यों लिया? उसका समाधानः—क्योंकि यहाँ जिसे सर्वज्ञ की और ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हुई है—ऐसे साधक की बात लेना है, और साधक को अपने स्वसंवेदन में आनंद है,—सुख है, इसलिये अपने स्वसंवेदन ज्ञान से वह निर्णय करता है कि अहो! मेरे ज्ञान और सुख का क्षेत्र मेरे आत्मा में ही है, मेरा आत्मा ही ज्ञान और सुख का धाम है, अपने ज्ञान और सुख के लिये किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा मुझे नहीं हैं; मेरा स्वक्षेत्र ही स्वयं ज्ञान और सुखस्वभाव से परिपूर्ण है।

भाई! तुझे ऐसा नहीं लगता कि आत्मा में भीतर देखने से शांति का वेदन होता है और बाह्य में दृष्टि करने से अशांति का वेदन होता है! इसलिये निर्णय कर कि शांति का—सुख का—आनंद का क्षेत्र तुझमें ही है, तुझसे बाहर कहीं सुख-शांति या आनंद नहीं है... नहीं है.. और नहीं है। बाह्य में परलक्ष से तुझे जिस आकुलता का वेदन होता है, उस आकुलता का (अशांति का-दुःख का) क्षेत्र भी तुझमें ही है, कहीं बाहर से वह आकुलता नहीं आती। उसीप्रकार अन्तर्मुख होकर एकाग्र होने से अनाकुल शांति का, अतीन्द्रिय आनंद का जो वेदन होता है, वह भी आत्मा के स्वक्षेत्रानुसार ही होता है, बाह्य से वह आनंद नहीं आता, और न वह आनंद विस्तृत होकर आत्मा से बाहर निकल जाता है।—इसप्रकार आनंद के प्रमाण में आत्मा है और आत्मा के प्रमाण में ज्ञान है। केवलीभगवान को परिपूर्ण आनंद और परिपूर्ण ज्ञान है, वह भी अपने में है, उसका क्षेत्र बाहर नहीं है। पहले अल्पज्ञान और अल्पसुख था, फिर केवलज्ञान होने पर अधिक ज्ञान और अधिक सुख हुआ; इसलिये वह आत्मा से किंचित् भी बाहर निकल गया—ऐसा नहीं है। स्वक्षेत्र में ही परिपूर्ण ज्ञान और सुख की शक्ति भरी है। अहो! पूर्णज्ञान और पूर्ण आनंद का क्षेत्र यहाँ मेरे आत्मा के असंख्य प्रदेशों में ही है; प्रदेश-प्रदेश में ज्ञान-आनंद भरा है, कोई प्रदेश ज्ञान-आनंद से रहित नहीं है; इस समय (साधकदशा में) मुझे अपने ज्ञान या आनंद का अपने आत्मा में ही होता है, तब फिर यह ज्ञान और आनंद बढ़कर जहाँ पूर्ण हुए जहाँ (—सर्वज्ञदशा में) भी वे ज्ञान और आनंद आत्मा में ही व्याप्त होकर विद्यमान हैं;—इसप्रकार साधक को अपने आनंद के स्वसंवेदनपूर्वक सर्वज्ञ का निर्णय है। जो जीव आत्मा के ज्ञान-आनंदस्वभाव का ऐसा निर्णय करे, उसे अपने में स्वभाव के आश्रय से अतीन्द्रिय आनंद का स्वसंवेदन हुए बिना न रहे, और विकार से भी उसका भेद हो जाये। साधकदशा में अल्प विकार होता है, उस विकार का और ज्ञान-आनंद का एक ही क्षेत्र होने पर भी

ज्ञानी को अपने वेदन में दोनों की भिन्नता हो गई है; क्षेत्र से भिन्नता न हो, किन्तु वेदन के स्वाद में पृथक्-पृथक् हो गये हैं। अंतर्स्वभाव में दृष्टि करने से मुझे अपने आनंद का वेदन होता है, इसलिये मेरा आत्मा उस विकार का आधार नहीं है,—इसप्रकार अंतर के स्वसंवेदनपूर्वक भेदज्ञान ज्ञानी के वर्तता है।

अज्ञानी कहता है कि बाह्य में देखने से ज्ञान होता है और बाह्य में आनंद आता है,—उसे अंतरस्वभाव के ज्ञान-आनंद का विश्वास नहीं है। ज्ञानी कहते हैं कि अंतर में देखने से मुझे अपने आनंद का वेदन होता है और जहाँ आनंद का वेदन होता है, वहीं मेरा ज्ञान है। मेरा आत्मा आनंद और ज्ञानस्वभाव से एकाकार है।

जहाँ आनन्द वहाँ आत्मा

और

जहाँ आत्मा वहाँ ज्ञान;

—इसप्रकार आनंद के न्याय से ज्ञान का आत्मप्रदेशीपना ही है। अहो! ज्ञान का आत्मप्रदेशत्व समझाते हुए आचार्यदेव ने आत्मा का आनंदस्वभाव भी बतला दिया। आचार्य भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद में झूल रहे हैं.. अतीन्द्रिय-आनंद में झूलते हुए संतों की वाणी में भी अतीन्द्रिय-आनंद झर रहा है।

वंदन हो... उस आनंदधाम में वास करनेवाले संतों के चरणों में!

—०००—०००—०००—

दसलक्षणीधर्म अर्थात् पर्यूषण पर्व

रविवार ता. ९-९-१९५६ से ता. १८-९-५६ तक दस दिन सोनगढ़ में दसलक्षणीधर्म अर्थात् पर्यूषण पर्व के रूप में मनाये जायेंगे। इन दिनों के दरमियान उत्तमक्षमा आदि धर्मों पर पूज्य गुरुदेव के मुख्य प्रवचन होंगे।

—०००—०००—०००—

जैन अतिथि सेवा-समिति की वार्षिक बैठक

गुरुवार ता. ३-९-५६ को शाम को पाँच बजे श्री जैन अतिथि सेवा-समिति की वार्षिक बैठक होगी, उसमें सर्व भाईयों को उपस्थित रहने की अभ्यर्थना है।

सुख-दुःख सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

[रात्रि-चर्चा से]

(१) **प्रश्नः**—स्वर्ग में, नरक में, तिर्यंच में, और मनुष्य में-इन चारों जगह सम्यक्दृष्टि होते हैं; तो उन चारों में अधिक सुखी कौन है ?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टिपने का सुख तो चारों को समान ही है। मनुष्यपने में आत्मा में विशेष एकाग्रता द्वारा चारित्रदशा प्रगट करे तो उसे उस चारित्रदशा का विशेष सुख होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन का सुख तो चारों गति के जीवों को समान ही है।

(२) **प्रश्नः**—सम्यक्त्वी के सुख की अपेक्षा केवली भगवान का सुख कितना अधिक है ?

उत्तरः—सम्यक्त्वी के सुख की अपेक्षा केवली भगवान का सुख अनंतगुना अधिक है।

(३) **प्रश्नः**—पुण्य के फल में पैसेवाले को जो सुख है, उसकी अपेक्षा सम्यक्त्वी का सुख कितने गुना ?

उत्तरः—सम्यक्त्वी का जो सुख है, वह तो आत्मा के स्वभाव का अतीन्द्रिय सुख है और पैसेवाले का जो सुख है, वह इन्द्रियजन्य सुख है अर्थात् वास्तव में तो वह दुःख ही है; इसलिये उस इन्द्रियजन्य सुख के साथ सम्यक्त्वी के अतीन्द्रिय सुख की तुलना नहीं की जा सकती। पैसे के सुख की अपेक्षा सम्यक्त्वी का सुख अनंतगुना है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों की जाति ही भिनन है।

(४) **प्रश्नः**—सच्चे भावलिंगी मुनि हों तो वे भरत चक्रवर्ती की अपेक्षा अधिक सुखी हैं ?

उत्तरः—हाँ, क्योंकि आत्मा के स्वरूप में उन्हें अत्यन्त एकाग्रता है, इसलिये वे भरत चक्रवर्ती की अपेक्षा भी अधिक सुखी हैं। भरत चक्रवर्ती को छह खण्ड के राज्यवैभव का संयोग होने पर भी अंतर्स्वरूप में अल्प स्थिरता (सम्यग्दर्शन जितनी) होने से वे अल्प सुखी हैं। अरे, सम्यक्त्वी मेंढ़क अंतर में एकाग्र होकर पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट करे तो वह भी चौथे गुणस्थानवाले चक्रवर्ती की अपेक्षा अधिक सुखी है। इसप्रकार आत्मस्वरूप में स्थिरतानुसार सुख है, बाह्य

संयोगों के अनुसार नहीं है; क्योंकि सुख तो आत्मा का स्वभाव है; बाह्य में सुख नहीं है।—हे जीव! अंतर का सुख अंतर की स्थिति में हैं।

(५) प्रश्नः—सातवें नरक की प्रतिकूलता सहन हो जाती, किन्तु मोह सहन नहीं होता—इसका क्या अर्थ ?

उत्तरः—इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिये कि बाह्य प्रतिकूल संयोग वास्तव में दुःख का कारण नहीं है, किन्तु अंतर का मोहभाव ही दुःखरूप है। ''जितना मोह उतना दुःख'' किन्तु संयोगों का दुःख नहीं है। सातवें नरक का जीव भी कहीं उसप्रकार के बाह्य संयोगों के कारण दुःखी नहीं है, किन्तु उसप्रकार के मोह के कारण ही वह दुःखी है।''मोह दूर हो तो दुःख मिटे।''

(६) प्रश्नः—एक मकान बन रहा हो, और वहाँ कोई सम्यक्त्वी खड़े हों; उनके हाथ पर ईंट गिर पड़े तो उन्हें दुःख होगा या नहीं ?

उत्तरः—प्रथम तो सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि किसी को भी ईंट गिरने के कारण दुःख नहीं होता; दुःख हो तो वह अपने भाव के कारण होता है।

अब, सम्यक्त्वी को उससमय अपनी सहनशक्ति की कमी के कारण (न कि ईंट के कारण) 'किंचित्' अरुचिरूप द्वेषभाव आ जाये तो उसे उस द्वेषभाव जितना 'अल्प' दुःख है। 'किंचित्' अरुचि और 'अल्प' दुःख कहने का कारण यह है कि—सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व का अभाव होने से उसे अनंतानुबंधी द्वेष नहीं है और मिथ्यात्व जनित महा दुःख भी नहीं है। ईंट को दुःख का कारण मानकर उसका द्वेष नहीं हुआ है।

मिथ्यादृष्टि जीव को अरुचि हो, वहाँ वह ईंट को दुःख का कारण मानकर द्वेष करता है, इसलिये उसका वह द्वेष अनंतानुबंधी है और मिथ्यात्वसहित के द्वेष से वह दुःखी है। अरे! कदाचित् वह मिथ्यादृष्टि जीव उससमय द्वेष न करे, और ''यह जो ईंट गिरी वह दुःख का कारण था, तथापि मैंने उसे सहनकर लिया''—ऐसा मानकर सहन कर ले, तो भी परद्रव्य को दुःख का कारण माना, वह अभिप्राय ही अनंत दुःख से भरा हुआ है; मिथ्या अभिप्राय के कारण वह महा दुःखी ही है।

यह बात तो पहले ही स्पष्ट कर ली है कि परद्रव्य तो ज्ञानी या अज्ञानी किसी को दुःख का कारण नहीं है।

योग्यता ही

[१]

''नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह। अन्यः पुनर्गुरुविक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्थात्तत्र योग्यताया एव साक्षात्साद्यकत्वात्।''

(अर्थः—) यहाँ ऐसी शंका होती है कि इसप्रकार तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जायेगा! उसके विषय में उत्तर यह है कि—अन्य जो गुरु आदि तथा शत्रु आदि हैं, वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में या विध्वंसन में सिर्फ निमित्त मात्र हैं। ''वास्तव में किसी भी कार्य के होने या बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है।''

(बम्बई से प्रकाशित इष्टोपदेश, गाथा ३५ की टीका, पृष्ठ ४२-४३)

[२]

×××पर इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि वैभाविक परिणाम जबकि निमित्त सापेक्ष होता है तो जैसे निमित्त मिलेंगे उसी के अनुसार परिणमन होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो वस्तु का वैभाविक परिणमन से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता, दूसरे वस्तु की ''कार्यकारी योग्यता'' का कोई नियम नहीं रहता और तीसरे निमित्तानुसार परिणमन मानने पर जीव का अजीवरूप भी परिणमन हो सकता है। इसलिये प्रकृत में इतना ही समझना चाहिये कि वैभाविक परिणमन निमित्त सापेक्ष होकर भी वह अपनी इस काल में प्रकट होनेवाली योग्यतानुसार ही होता है। ××××अपनी योग्यतावश ही जीव संसारी है और अपनी योग्यतावश ही वह मुक्त होता है। जैसे परिणमन का साधारण कारणकाल होते हुए भी द्रव्य अपने उत्पाद-व्यय स्वभाव के कारण ही परिणमन करता है। काल उसका कुछ प्रेरक नहीं है। वैसे ही परिणाम का विशेष कारण कर्म रहते हुए भी जीव स्वयं अपनी योग्यतावश राग-द्वेष आदिरूप परिणमन करता है, कर्म उसका कुछ प्रेरक नहीं है। आगम में निमित्त विशेष का ज्ञान कराने के लिये ही कर्म का उल्लेख किया गया है। उसे कुछ प्रेरक कारण नहीं मानना चाहिये। जीव पराधीन है, यह कथन निमित्तविशेष का ज्ञान कराने के लिये ही किया जाता है, तत्त्वतः प्रत्येक परिणमन होता है, अपनी योग्यतानुसार ही।

(देखो, पं. फूलचन्द्रजी सम्पादित पंचाध्यायी गाथा ६१ से ७० का विशेषार्थ पृष्ठ १६२)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी